संपादकीय

कोरोना के भय के बहाने

माल्थस के जनसंख्या सिद्धांत के अनुसार यदि समाज खुद जनसंख्या पर नियंत्रण कहीं करता, तो प्रकृति बाध्य होकर आपदाओं को आमंत्रित करती है। प्राकृतिक प्रकोप अपनी जगह है, परंतु जनाधिक्य से अनेक प्रकार की अप्राकृतिक समस्याएँ भी बढ़ती हैं। यों भी पूरी दुनिया में प्रतिदिन औसतन डेढ़ लाख और भारत में साढ़े बाईस हजार लोगों की मृत्यु के पीछे कोई-न-कोई कारण निसर्गतः रहता है, बड़ी आयु की वजह से प्राकृतिक मौतें भी होती हैं; वहीं समुचित उपचार के अभाव में भी कुछ मौतें होती होंगी। दूसरी ओर, जितनी मौतें होती हैं, उनसे हजारों गुणा अधिक लोग सही उपचार द्वारा स्वस्थ होकर लंबी जिंदगी जीते हैं। ऐसे में कोरोना की भयावहता को भाँपते हुए लोकबंदी बिलकुल सही है, पर इस दरम्यान स्वास्थ्य संबंधी अन्य समस्याओं, चुनौतियों की अनदेखी उचित नहीं, क्योंकि इससे कोरोना से होने वाली मौत का ग्राफ भले ही नीचे हो जाए, पर दूसरे कारणों से मृतकों की संख्या बढ़ सकती है। किसी भी कारण से मौत तो मौत है। यह ठीक है कि कोरोना विषाणु ने एक बार पाँव पसार लिया तो इसे रोक पाना फिलहाल नामुमकिन होगा; घर-के-घर तबाह हो जाएँगे, जैसे कि पहले हैजा-प्लेग से गाँव-के-गाँव बर्बाद हो जाते थे। तब चिकित्सा विज्ञान समुन्नत नहीं था, अब वैज्ञानिक उन्नति उत्कर्ष पर है, जिस कारण यह विश्वास प्रबल है कि कोरोना का टीका और सटीक इलाज का रास्ता देर-सबेर अवश्य खोज लिया जाएगा। पूर्व की चिकित्सीय सुविधा का लाभ यह है कि कोरोना जैसी एकदम नई असाध्य बीमारी में भी यदि समय रहते ठीक ढंग से उपचार मिल जाए तो जीने की संभावना अधिक बनती है। जो आँकड़े उपलब्ध हैं, उसके हिसाब से जितनी मौतें हो रही हैं, उनसे कहीं पाँच गुणा, कहीं दस गुणा तो कहीं बीस गुणा अधिक लोग स्वस्थ हो रहे हैं। इस प्रकार कोरोना पर चिकित्सकीय नियंत्रण है, पर मरीजों की संख्या में लगातार बढ़ोतरी को देखते हुए उपचारात्मक ढाँचे को सुदृढ़ व विस्तृत करना अत्यावश्यक है।

कोरोना की चपेट में विश्व के प्रायः सभी देश आ चुके हैं, संक्रमितों और मृतकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। कोरोना विषाणु पूर्व में इंसानों में नहीं मिला था, हालाँकि उसके अस्तित्व का पता दशकों पहले से है। कुछ लोग इसे प्रयोगशाला में तैयार हुआ मान रहे हैं, किंतु इसका कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं है। हांगकांग विश्वविद्यालय के शोध-अध्ययन के अनुसार, इसका आकार एक माइक्रोमीटर से सूक्ष्म है, एक मिलीमीटर के एक लाखवें भाग से भी सूक्ष्म है। इसे आँखों से तो क्या, सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) से भी देखना संभव नहीं। इतने सूक्ष्म विषाणु को कहीं से भी प्रवेश मिल सकता है, फिर भी इंद्रियाँ - आँख, नाक, कान, मुँह आदि इसके लिए सुगम प्रवेशद्वार हैं? विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार, कोरोना वायरस से संक्रमित होने पर 88 प्रतिशत लोगों को बुखार, 68 को खाँसी और कफ, 38 प्रतिशत को थकान, 18 प्रतिशत को साँस लेने में तकलीफ, 14 प्रतिशत को शरीर या सिर में दर्द, 11 प्रतिशत को ठंड और 4 प्रतिशत लोगों में डायरिया के लक्षण दिखते हैं। कुछ रोगियों में ये लक्षण नहीं दिखते। पहले चरण में इन सबका सही ढंग से इलाज हो जाए तो कोरोना के आगे बढ़ने की संभावना क्षीण होती है। हर आयु-वर्ग के लिए कोरोना घातक है। एक से दूसरे में फैलने से रोकने और इसे पास न फटकने देने का उत्तम उपाय है व्यक्तिगत-सामाजिक दूरी बनाकर रखना, क्योंकि किसमें संक्रमण है और किसमें नहीं है - यह स्वतः कौन जान सकता है। इसी निमित्त लोकबंदी को आजमाया गया है। यह 80-85 प्रतिशत सफल रही, किंतु जनसंख्या इतनी अधिक है कि अति आवश्यक सेवाओं और आपद् धर्म निभाने मात्र के लिए भी करोड़ों लोगों को घर से निकलना पड़ता है, कहीं बच्चे के जन्म की तैयारी और होने का उत्सव, कहीं मृत्यु का शोक और अंतिम संस्कार, कहीं बीमारियों का इलाज, तो कहीं पापी पेट के सवाल ने लोकबंदी के उद्देश्यों की धार को कुंद किया है।

भारत में बहुत-सारे लोगों को आनन-फानन में सैकड़ों किलोमीटर की दूरी बिना खाए-पिए पैदल तय करनी पड़ी, जिसे टाला जाना चाहिए था। लोकबंदी की घोषणा से पहले कुछ समय देकर जो जहाँ है या फिर जहाँ जाना

चाहता है, उन्हें वहाँ समय रहते द्रुतगति से ठहराने-भिजवाने की पूर्ण व्यवस्था जरूरी थी। हालाँकि सब लोग पहुँच तो गए, पर उनके जाने का सिलसिला पूरी लोकबंदी के दौरान थमा नहीं। रास्ते में जो असुविधा-ज्यादती हुई वह अलग, कई तो काल के ग्रास बन गए। बाद में उन्हें विशेष रेलगाड़ियों से, बसों से भेजा जाना ठीक रहा। बड़े पैमाने पर पलायन के कारण संक्रमण सुदूर क्षेत्रों में पहुँचा है। तबलीगी जमात ने भी संक्रमण बढ़ाने का जाने-अनजाने कार्य किया। बड़ी मुश्किल से पकड़ में आने पर ऐसा व्यवहार किया, ताकि कोई उनके इलाज के बारे में सोचें भी न, उन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया जाए। जहाँ अस्पताल जाने पर कई बार कोई पूछने वाला नहीं होता और रोगी को भगवान भरोसे छोड़ दिया जाता है, पुलिस तक भगा देती है, वैसे में स्वास्थ्यकर्मियों और पुलिसकर्मियों से अभद्रता से पेश आकर कोई उनसे काम ले ले - यह दुनिया के आठवें आश्चर्य से कम नहीं। अश्लील हरकतें करने वालों, एकसाथ रहने वालों, चिकित्सकों-नर्सों से तकलीफ न बताने वालों, पत्थरबाजी और लाठी-डंडों से हमला करने वालों का कोई इलाज करता क्या यदि कोरोना फैलने का भय नहीं होता! अस्तु, कुछ धर्मगुरु ईश्वर-अल्लाह पर भरोसा रखने को कहते हैं और मानते हैं कि ईश्वर दयालु है, उसकी कृपा पर भरोसा रखना चाहिए। परमसत्ता पर विश्वास प्रशंसनीय है, पर ईश्वर की अनुकंपा के लिए कठिन आत्म-साधना का सामूहिक रूप अनिवार्य है, जिसके अभाव में कभी मक्का में हज के समय तो कभी प्रयागराज में कुंभ के समय और कभी देवी-देवताओं के मंदिर में भगदड़ में लोग मारे जाते हैं। पुण्य लाभ अर्जित करने ही सब लोग जाते हैं, पर असमय काल के गाल में समा जाते हैं। इसलिए कोरोना जैसी घातक बीमारियों के प्रति सचेत रहते हुए जरूरी उपाय करना युगधर्म है, तभी जान बच सकती है।

लोकबंदी में स्वाभाविक रूप से किसी को कम तो किसी को अधिक असुविधाएँ झेलनी पड़ी हैं, पर इसका फायदा कोरोना रोकने के अतिरिक्त कई स्तरों पर देखने को मिला है। जहाँ नगरों-महानगरों की हवा शुद्ध नहीं थी, प्रदूषण रोकने के लिए सरकार की सख्ती नगण्य साबित होती थी, वहाँ लोकबंदी की अल्पावधि में ही प्रदूषण का स्तर इतना सुधरा, जिसका जवाब नहीं। चाहे ध्वनि प्रदूषण हो या वायु प्रदूषण या फिर जल प्रदूषण, सभी स्तरों पर आशातीत सुधार हुआ। गंगा का प्रदूषण भी काफी कम हुआ, क्योंकि औद्योगिक संस्थानों से रिसाव बंद था। विश्व भर में कार्बन उत्सर्जन, जो सबसे घातक और सबसे ज्यादा प्रदूषण का कारक है, उसमें अनायास कमी आई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ज्यादातर इकाइयों के ठप होने के कारण प्रदूषण काफी कम हो गया था। पचहत्तर साल बाद पुनः एक बार वैसी ही स्थिति बनी, वह भी जनसंख्या में तीन गुणा बढ़ोतरी और संगठनात्मक ढाँचे के व्यापक विस्तार के बावजूद। जिन छोटे-बड़े शहरों की सड़कें रोजाना दो-चार लोगों की अकाल मृत्यु का साक्ष्य बनती थीं, उन पर दुर्घटनाएँ कम हो गईं, हालाँकि पलायन कर रहे सैकड़ों लोग दुर्घटनाओं के शिकार बने। आपराधिक घटनाओं में 75 प्रतिशत तक गिरावट आई। शोरगुल, हो-हल्ला में कमी सुकुनदायक है। यह सब कोरोना से बचने हेतु लोकबंदी का अतिरिक्त लाभ है और इस प्रकार सदैव के लिए अनुकरणीय मिसाल भी, लेकिन फसलों को काटने में कठिनाई और मजदूरों के अभाव से किसानों को नुकसान हुआ है।

लोकबंदी के दौरान सैर-सपाटा, भागदौड़, भीड़भाड़ से बचकर घर से काम निबटाया जा रहा है, ऑनलाइन काम अपेक्षाकृत अधिक हो रहा है। इन सबसे आत्मनिर्भर होने का जज्बा बना है और सबक मिला है कि ज्यादा-से-ज्यादा काम खुद निबटाने चाहिए, ताकि मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहे; हालाँकि कई लोग बोर भी हो रहे हैं, उनका मानसिक-शारीरिक स्वास्थ्य खराब हो रहा है, क्योंकि उन्हें भागते रहने की लत है। विदेशों में तो घर में एकसाथ रहने के कारण पारिवारिक तनाव की घरेलू घटनाएँ एकाएक बढ़ गईं। इससे स्पष्ट है कि कुछ संबंध दूर अति व्यस्त रहने के कारण ही बने रहते हैं, नजदीक आते अपना असली रूप दिखाने लगते हैं। बहरहाल, भागमभाग से विलग रहकर एकांत में मानसिक, आत्मिक, आध्यात्मिक विकास किया जा सकता है, जो सभी विकासों का मूल है। इसे मजबूरी में नहीं, बल्कि सहर्ष, स्वैच्छिक तौर पर आदत में शुमार करना चाहिए।

रंगसाजी का विज्ञापित मनोविज्ञान

संसद में अक्साई चीन को लेकर भूतपूर्व प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि जो जमीन चीन के कब्जे में चली गई, उस पर कुछ नहीं, यहाँ तक कि तिनका भर घास भी नहीं उगती थी। तब सांसद महावीर त्यागी ने उन्हें टोकते हुए कहा था कि आपके-हमारे सिर पर बाल उगते नहीं दिख रहे तो क्या उस पर दूसरे का आधिपत्य स्वीकार कर लेना चाहिए? नेहरू जी को तब यह बात भले ही अटपटी लगी हो, पर आजकल जिनके सिर पर बाल नदारद हैं, वे एक ओर तरह-तरह नुस्खों को आजमाते हुए बाल उगाने-उपजाने का यत्न करते हैं, तो दूसरी ओर, अपनी कनपटी तथा सिर के पिछले अर्द्ध चंद्राकार हिस्से के अवशिष्ट श्वेत अथवा खिचड़ी बाल-पट्टिका पर गहरी कालिमा के प्रभुत्व को सहर्ष स्वागत के साथ सलीके से ओढ़ते हैं। स्वयं नेहरू जी भी अपने केशहीन सिर पर टोपी धारण कर उसकी संप्रभु छाया में सदैव रहते थे। यह भले ही उनके नजदीकियों के लिए कोई रहस्य न हो, पर आजकल के लोगों के लिए किसी अबूझ पहेली से कम नहीं कि नेहरू जी के सिर पर टोपी की संप्रभुता क्या इसलिए स्थापित हो पाई थी कि उस पर बाल नहीं उगते थे, या फिर इसलिए कि उस समय के ज्यादातर नेता गाँधी टोपी पहनते ही थे, हालाँकि जिस गाँधी जी के नाम पर उस टोपी का नामकरण गाँधी टोपी हुआ था, वे उसे कभी-कभार अधिवेशन, आंदोलन के समय ही पहना करते थे, क्योंकि तन ढँकने के लिए कम से कम वस्त्र पहनने का उन्होंने व्रत ले रखा था। हो सकता है कि सिर पर टोपी पहनना उन्हें फिजूल-फालतू का लगता हो, यद्यपि सिर भी तन का हिस्सा है; खाली हिस्सा ही नहीं, सर्वप्रमुख अनिवार्य अंग है। हाथ, पैर, आँख, नाक, कान के बिना आदमी फिर भी जिंदा रह लेता है, पर सिर के बिना पल भर पर भी जीवित रहने की कल्पना संभव नहीं। महाभारत में जिस बर्बरीक के सर धर से अलग हो जाने के उपरांत भी जीवित रहकर देखने-समझने का उल्लेख है, उसका जीवित रूप वाला भाग सर ही था। गणेश जी को पुनर्जीवन हाथी का सिर लगाने के उपरांत ही मिल सका।

आजकल परती भूखंड को उर्वर बनाने के अनेक उपाय कारगर होने लगे हैं, जिसकी बदौलत हजारों एकड़ ऊसर भूमि पर फसलें रोपी-बोई जाने लगी हैं और इस प्रकार परती धरती सोना उगलने लगी है; ठीक वैसे ही उजड़े सिर की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के अन्यान्य तरीकों के दम पर हजारों-लाखों सिर बालों से गुलजार हो चुके हैं। यह व्यवसाय इतना फल-फूल रहा है, जितना बंजर भूमि को उर्वर करने का भी नहीं चल रहा। अब फसल-केश से लहलहाते पहले के इन ऊजड़े भूमिखंडों, सिरखंडों को कोई बंजर-गंजा कहने की जुर्रत नहीं कर सकता। जिसने पहले का गंजापन देखा है, उसे भी भौंचक होना पड़ता है, क्योंकि पहले ऐसा सोचना पत्थर पर सींचकर खेती करने जैसा था। जो लोग बाद में बाल उगवा लेते हैं, उन्हें हठात् पहचानने में अचंभा होता है कि वह वही है या कोई और? उससे ज्यादा, उसके उग आए बालों पर ध्यान पहले-पहल खिंचता है।

मुकुट, पगड़ी, टोपी की तरह सिर पर धारण की जाने वाली प्रत्येक वस्तु श्रेष्ठ है, क्या इस आधार पर सिर के शेष बचे, अर्द्ध या पूर्ण पके बालों पर लगाए जाने वाले असित-अश्वेत रंगलेप को श्रेष्ठ माना जा सकता है? यदि वह उत्तम-उचित नहीं समझा जाता तो उसका वरण, वह भी सिर पर कोई क्यों करता! इसके पीछे सदियों से चली आ रही लोक-रूढ़ियाँ और इधर लंबे समय से विज्ञापित विचारणा काम करती है, जिसके अंतर्गत केशों की देखभाल के लिए बने उत्पादों की बड़ाई में काले, घने और लंबे करने के गुर गड़े बताए जाते हैं, हालाँकि उपयोग करने वाले शिकवा-शिकायत भी करते हैं कि इससे बाल क्या काले-घने होंगे; उल्टे झड़ते हैं, सफेद होते हैं और टूटने लगते हैं। यह व्यक्ति-विशेष के लिए उपयुक्त होने-न होने से जुड़ा मुद्दा हो सकता है। लेकिन कॉस्मेटिक क्रांति के अंतर्गत अंगराग के प्रति तीव्र आकर्षण के जमाने में बालों के कारोबार के सकारात्मक प्रभाव देखकर सम्मोहित होना पड़ता है, जिन्हें देखकर अन्य जन भी विमोहित हो जाया करते हैं। भोक्ता ही क्यों, इस क्षेत्र में रोजगार-व्यवसाय में लगे लोगों के लिए यह बढ़िया कमाऊ धंधा साबित हुआ है। चिकित्सा विज्ञान का एक बड़ा फोकस सौंदर्य चेतना और उसमें भी बालों को लगाने, सजाने-सँवारने के व्यवसाय पर सिर चढ़कर चमक रहा है। हालत यह है कि बाजार-विपणन की गलाकाट होड़ में गंजों से भी बाल उग आने की उम्मीद बँधाकर कंघी बेची जा रही है। कूड़े-कचरे में भी बदतर रेशे जैसे एकदम पतले केश कैंसर जैसे बड़े मारक रोग के कारक बनते हैं, जलने पर

जुगुप्सा की हद तक बदबू फैलाते हैं; अपवर्ज्यों में अपवर्ज्य कटे बाल कच्चे माल के तौर पर उपयोग में आने के कारण आयात-निर्यात की वस्तु एवं पैसा कमाने के अच्छे साधन बने हैं।

लोकबंदी-लॉकडाउन में आपात सेवाओं के अलावे सब कुछ बंद होने के दरम्यान जिन सेवाओं पर ज्यादा मार पड़ी, उनमें सैलून भी थे। कई नाई तो हजामत का काम छोड़कर आजीविका चलाने के उद्देश्य से दूसरे-दूसरे काम करने लगे। ऐसे में आम जनों को अपने केश या तो स्वयं काटने पड़े या फिर मित्र, परिजनों से कटवाने पड़े। स्वाभाविक था कि बालों की छँटाई-कटाई, रँगाई-पोताई वैसी नहीं हो सकती, जैसी सैलून या ब्यूटी पार्लर में पेशेवर हजाम के हाथों होती है। आखिर आपद् धर्म आपद् कार्य की तरह ही होता है, वह भी यदि गैर-पेशेवर लोगों द्वारा संपन्न हो तो उसमें त्रुटि की संभावना ही नहीं, बल्कि त्रुटि अनिवार्यतः होती ही है। इसीलिए आकस्मिक आपदाओं से निबटने के लिए विशेष प्रशिक्षित बलों को लगाया जाता है, राष्ट्रीय आपदा प्रतिक्रिया बल (एन.डी.आर.एफ.) तभी तो बनाया गया है। बहरहाल, स्वयंसेवा के अंतर्गत अपने-आप बाल काटने वाले लोग विशेष क्या, सामान्य प्रशिक्षु भी नहीं थे। अत्याधुनिक मशीन और शीशे के चलन के बावजूद कुछ गिने-चुने ही अपना बाल अपने काट पाते होंगे। फिर कोई कितना ही बढ़िया पेशेवर हो, उसकी कार्यकुशलता अपने लिए हमेशा काम नहीं आती। अपना बाल तो स्वयं नाई भी नहीं काटता, चिकित्सक भी अपनी देह पर सूई नहीं लगा पाता। बाल स्वयं मुँड़ने का काम आसान तो नहीं, पर स्वयं नियमित दाढ़ी बनाने वाले और कम बाल वालों के लिए मुश्किल भी नहीं। अस्तु, लोकबंदी के दौरान मुँड़े गए सिर के बाल पुनः बढ़कर प्राकृतिक रूप में पके होने का एहसास कराने लगे हैं, क्योंकि अब तक पूर्णतः या अंशतः रँगने की रस्म निभती रही है। जीवन के उत्तरार्द्ध में सिर पर जितने बाल बचते हैं, उनसे अधिक हमेशा के लिए गायब भी हो जाते हैं; सबके साथ ऐसा ही होता है - यह सोचना मुनासिब नहीं। ऐसे में बालों को रँगने-न रँगने को लेकर उधेड़बुन चलना लाजिमी है। सिर पर कम बाल वाले तो यों भी मुंड मुँड़ाए वालों की तरह लगते हैं, पूर्णतः नहीं तो अंशतः अवश्य ही। किसी का आधा तो किसी का बहुलांश सिर सदा सफाचट की स्थिति में रहता है। लेकिन कुछएक बार सिर मुँड़ाए व्यक्ति की आभा कम नहीं, अधिक झलकती है। अनेक साधु-संन्यासी ऐसा दिव्य प्रभामंडल बिखेरते हैं, जैसा तरह-तरह के बाल-विन्यास वाले भी नहीं बिखेरते, बेशक प्रदीप्ति केवल बाल होने-न होने के कारण नहीं होती। सिर के बालों को संपूर्णतः साफ रखना आरामदायक एवं सौंदर्यबोधक भी प्रतीत होता है।

जब भूरे-श्वेत बाल त्वचा से ज्यादा मेल खाते हैं, तो फिर कनपटी के ऊपर का पतला-हल्का हिस्सा और खोपड़ी का पिछला भाग रँगकर बदरंग-बदरूप क्यों बनाना? संभवतः इसके पीछे मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि एक तो शुरू से भारतीय लोग बालों के काले रूप को ही देखने के आदी-अभ्यस्त हैं और दूसरा, उम्र कम प्रदर्शित करने के फेर में केश काले किए जाते हैं, नहीं तो बालों को रँगने से न उम्र छिपती है और न यह सदैव उपयुक्त, आकर्षक लगता है। फिर रँगाई-पोताई में समय बर्बाद करने तथा उम्र कम आँकने-अँकवाने की आवश्यकता क्यों महसूस होती है? मान लिया जाए कि बचपन में बाल श्वेत होते और बाद में चलकर काले हो जाते तो लोग उन्हें श्वेत रंग में ही रँगते; वही जवानी-रवानी, ऊर्जा-उत्साह और यौवन-प्रौढ़ता का प्रतीक बनता। काले-भूरे-श्वेत बाल या एकदम मुँड़वाया हुआ सिर बेशक ज्यादा प्राकृतिक लगता हो, त्वचा के ज्यादा समीपस्थ होता हो, पर कई जगह व्यतिरेकी-परस्पर विरोधी अर्थात् कॉन्ट्रास्ट रंग भी चलते ट्रेंड-फैशन का उचित उपक्रम है। जिनके सिर बालों से भरे हैं और उम्र कम है, उनके लिए यही पैमाना नहीं अपनाया जा सकता। परंतु लाख टके का सवाल है कि कम उम्रवालों को कृत्रिम बाल लगवाने-रँगने की जरूरत क्या है? उनके बाल तो प्राकृतिक रूप से काले या भूरे और घने होते ही हैं। लेकिन नहीं, आजकल बच्चों के बाल भी सफेद हो जाया करते हैं, बड़े-बुजुर्गों के बाल कब सफेद हुए - यह रंग में पगे होने के कारण भले ही पता न चल पाता हो। आधुनिक समाज में सैकड़ों किस्म के बाल-विन्यासों का घूर्णन चलते रहता है, नई-नई केश-सज्जा के तौर-तरीके भी जुड़ते जाते हैं, ठीक उसी प्रकार केश केवल काले नहीं किए जाते, वरन् सैकड़ों रंगों में से चुनकर रंग-विरंगे किए जाते हैं। भारत में बालों पर प्रायः काला रंग चढ़ाया जाता है, पर बाहर एक से बढ़कर एक रंग-रंजित बालवाले मिल सकते हैं। वहाँ श्वेत रंग से भी रँगे गए बाल ऊटपटाँग नहीं लगते, इसलिए बालों का सफेदीकरण किया जाता है। भारत में बालों के सफेदीकरण का प्रचलन नहीं, वरन् उजले को छुपाने के लिए गहरा स्याहीकरण किया जाता है।